Shodh Prabha: A Multidisciplinary Journal
ISSN: 3108-2726 (Online), Volume-2, Issue-5, (September - October) 2026

आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी की इतिहास-दृष्टि का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. सुरेन्द्र कुमार
एसोसिएट प्रोफ़ेसर, (हिन्दी), राजकीय महाविद्यालय, भिवानी, हरियाणा

सारांश

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन की दो महत्वपूर्ण और प्रभावशाली परंपराओं के प्रतिनिधि हैं। शुक्ल जी ने साहित्य को मुख्यतः जनता की चित्तवृत्ति, सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों और कालगत प्रवृत्तियों के संदर्भ में देखा, जबकि द्विवेदी जी ने उसे भारतीय संस्कृति, लोक-परंपरा और निरंतर प्रवाहित ऐतिहासिक चेतना से जोड़ा। शुक्ल जी का इतिहास-लेखन काल-विभाजन और युगीन परिस्थितियों पर केंद्रित है, वहीं द्विवेदी जी साहित्यिक धाराओं के पूर्ववर्ती स्रोतों और अंतर्संबंधों की खोज करते हैं। भक्तिकाल के उदय को लेकर दोनों में प्रमुख मतभेद है- शुक्ल जी इसे राजनीतिक पराजय और निराशा से जोड़ते हैं, जबकि द्विवेदी जी इसे भारतीय सांस्कृतिक चेतना की दीर्घकालीन स्वाभाविक परिणति मानते हैं। संत-साहित्य और कबीर के मूल्यांकन में द्विवेदी जी ने सिद्ध, नाथ और जैन परंपराओं के संदर्भ में उनका व्यापक, लोकधर्मी और मानवतावादी पुनर्मूल्यांकन किया। रीतिकाल और प्रेमचंद के मूल्यांकन में भी उनकी सामाजिक और जनजीवन केंद्रित दृष्टि स्पष्ट है। इस प्रकार दोनों की इतिहास-दृष्टियाँ विरोधी नहीं, बल्कि हिंदी साहित्य को समझने की परस्पर पूरक दिशाएँ हैं।

बीज शब्द- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, इतिहास-दृष्टि, साहित्येतिहास, जनता, लोक, भक्तिकाल, कबीर, रीतिकाल, परंपरा।

प्रस्तावना-

हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी दो ऐसे उच्च शिखर हैं जिनके बीच संवाद, असहमति और पुनर्मूल्यांकन की एक समृद्ध परंपरा निर्मित होती है। दोनों का उद्देश्य साहित्यिक इतिहास को वैचारिक अनुशासन के साथ स्थापित करना था; पर पद्धति, केन्द्रीय अवधारणाओं और मूल्यांकन-मानकों में उनका मार्ग भिन्न है। शुक्ल के लिए साहित्य का इतिहास मुख्यतः जनता की चित्तवृत्तियों में होने वाले परिवर्तन और युग-स्थितियों- खासतौर पर राजनीतिक-सामाजिक उथल-पुथल के प्रतिबिंब के रूप में उद्घाटित होता है। इसके उलट, द्विवेदी के लिए साहित्य की धारा समाज-परंपरा-संस्कृति के दीर्घकालिक प्रवाह में निरंतरता, अंतःप्रेरणा और लोक-संस्कृति की हिस्सेदारी से अर्थ ग्रहण करती है।

इतिहास- लेखन की पद्धतिः 'युग-चेतना' बनाम 'सांस्कृतिक-निरंतरता'- शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास को व्यवस्थित कालखंडों-आदिकाल/वीरगाथा-काल, भक्तिकाल, रीतिकाल, आधुनिक काल में संस्थापित कर साहित्य को इतिहास-चेतसत्ता से जोड़ा। उनकी प्रविधि सामाजिक-राजनीतिक शक्तियों के साथ साहित्य के आंतरिक रूप-परिवर्तनों को जोड़ती है। इसका एक प्रमुख परिणाम है- युगानुकूल प्रवृत्तियों, रस-मानदंडों और शैलीगत-प्रचलनों का तुलनात्मक अनुशीलन। दूसरी ओर, द्विवेदी परंपरा की काट-छाँट से अधिक उसकी दीर्घजीविता, अंतर्संबंध और सांस्कृतिक-स्रोतों की बहुलता पर बल देते हैं। उनके इतिहास-बोध में संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और लोक-साहित्य की गहरी परतें एक समेकित परिदृश्य रचती हैं। वे स्पष्ट करते हैं- "ऐसा प्रयत्न किया है कि हिंदी साहित्य को संपूर्ण भारतीय

साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाए। मूल पुस्तक में बार-बार संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य की चर्चा आई है, इसीलिए कई लंबे परिशिष्ट जोड़कर संक्षेप में वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्यों का परिचय करा देने की चेष्टा की गई है।"[1] यह उद्घोष न केवल स्रोत-क्षेत्र का विस्तार है, बल्कि हिंदी साहित्य को अखिल-भारतीय बौद्धिक-परंपरा से अंतर्संबद्ध देखने की इतिहास-बोध की प्रतिज्ञा है।

'जनता' और 'लोक': इतिहास-दृष्टि का केंद्रीय अंतर- दोनों इतिहासकारों के बीच मूल अंतर को 'जनता' और 'लोक' की अवधारणाओं के माध्यम से भी समझा जा सकता है। शुक्ल जी के यहाँ 'जनता' एक निश्चित समय की राजनीतिक, सामाजिक और मानसिक परिस्थितियों से प्रभावित समुदाय है। वे साहित्य को जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब मानते हैं। लेकिन उनके यहाँ जनता का केंद्र मुख्यतः शिक्षित समाज दिखाई देता है। साहित्य के मूल्यांकन में वे इस बात को महत्व देते हैं कि वह शिक्षित जनता की चित्तवृत्ति को किस प्रकार प्रभावित करता है। द्विवेदी जी का 'लोक' इससे अधिक व्यापक है। उनके लोक में केवल शिक्षित समाज नहीं, बल्कि सामान्य जनजीवन, उपेक्षित वर्ग, लोक-संस्कृति, जनपरंपराएँ और वे सांस्कृतिक धाराएँ भी शामिल हैं, जिन्हें साहित्य के परंपरागत इतिहास में अपेक्षाकृत कम महत्व मिला था। यही कारण है कि द्विवेदी जी इतिहास की मुख्यधारा के बाहर दिखाई देने वाले अनेक साहित्यिक स्रोतों को पुनः सामने लाते हैं। उनके लिए किसी साहित्यिक धारा का महत्व केवल इस आधार पर तय नहीं होता कि वह तत्कालीन शिक्षित समाज में कितनी लोकप्रिय थी, बल्कि इस आधार पर भी तय होता है कि वह व्यापक मानवीय और सांस्कृतिक जीवन को किस प्रकार व्यक्त करती है।

इतिहास-लेखन में पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का महत्व इस बात में भी है कि उन्होंने शुक्ल जी द्वारा निर्मित साहित्येतिहास की स्थापित मान्यताओं को यांत्रिक रूप से स्वीकार नहीं किया। उन्होंने परंपरा के उन पक्षों की खोज की जिन्हें पूर्ववर्ती इतिहास-लेखन में पर्याप्त महत्व नहीं मिला था। प्रो. मैनेजर पाण्डेय इस संदर्भ में लिखते हैं कि "साहित्य के इतिहास लेखन में कुछ तिथियों और तथ्यों को घट-बढ़ा देना या कमोबेश 'कवि कीर्तन करना' नया इतिहास लिखना नहीं है। इतिहासलेखन का नयापन विस्मृत परंपराओं की खोज करने, परंपराओं को पुनर्व्यवस्थित करने और उनका नया मूल्यांकन करने में प्रकट होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह महत्वपूर्ण काम किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इतिहास लेखन का प्रयास परंपरा के पुनर्मूल्यांकन और नए विकास की संभावनाओं की ओर संकेत करने के कारण ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन की दिशा में एक सार्थक और नया प्रयास माना जाता है।"[2] द्विवेदी जी के लिए नया इतिहास केवल पुराने इतिहास में कुछ नए नाम जोड़ना नहीं था। वास्तविक नयापन इतिहास की उपेक्षित परंपराओं को खोजने, उनके संबंधों को पुनर्स्थापित करने और स्थापित मूल्य-व्यवस्था का पुनर्मूल्यांकन करने में था।

'वीरगाथा-काल' बनाम 'आदिकाल'- शुक्ल का काल-विभाजन हिंदी इतिहास-लेखन की आधारशिला है; किंतु कई स्थानों पर वे जिन काव्य-ग्रंथों के सहारे वीरगाथा-काल को स्वरूपित करते हैं, उनका पाठालोचन और ग्रन्थों की प्रामाणिकता का प्रश्न आज भिन्न निष्कर्ष सुझाते हैं। इसी संदर्भ में आचार्य द्विवेदी 'वीरगाथा-काल' की उपाधि पर असहमति जताते हुए 'आदिकाल' को अधिक यथोचित मानते हैं क्योंकि अनेक तथाकथित वीरगाथात्मक ग्रंथों के मूलरूप संदिग्ध या परवर्ती मिलते हैं।

भक्तिकाल की व्याख्या: दोनों इतिहास-दृष्टियाँ- शुक्ल और द्विवेदी के बीच सबसे महत्वपूर्ण वैचारिक मतभेद भक्तिकाल की उत्पत्ति और विकास को लेकर है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति आंदोलन के उदय को मुस्लिम सत्ता की स्थापना तथा उससे उत्पन्न हिंदू समाज की राजनीतिक पराजय और मानसिक निराशा से जोड़ा। उनका विचार था कि राजनीतिक

शक्ति समाप्त होने और सामाजिक गौरव को आघात पहुँचने के बाद समाज भगवान की शक्ति और करुणा की ओर उन्मुख हुआ। शुक्ल जी लिखते हैं कि "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[3] इस व्याख्या में राजनीतिक परिस्थिति को भक्ति आंदोलन का प्रमुख प्रेरक माना गया है।

द्विवेदी जी इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका तर्क है कि यदि मुस्लिम राजनीतिक सत्ता ही भक्ति आंदोलन के उदय का प्रमुख कारण होती, तो भक्ति पहले सिंध और उत्तर भारत में प्रकट होती, जबकि उसका प्रमुख विकास दक्षिण भारत में हुआ। वे भक्ति को भारतीय सांस्कृतिक चेतना की दीर्घकालीन प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। वे शुक्ल जी की व्याख्या पर प्रश्न उठाते हुए कहते हैं कि "यह बात अत्यंत उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मंदिर तोड़ रहे थे, तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा का उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में।"[4] द्विवेदी जी आगे भक्ति को लंबे समय से तैयार हो रही सांस्कृतिक प्रक्रिया का परिणाम मानते हैं- "असल बात यह है कि जिस बात को ग्रियर्सन ने 'अचानक बिजली की चमक के समान फैल जाना' लिखा है वह ऐसा नहीं है। उसके लिए सैकड़ों वर्ष से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे। फिर भी ऊपर-ऊपर से देखने पर लगता है कि उसका प्रादुर्भाव एकाएक हो गया।"[5]

इस प्रकार द्विवेदी जी के लिए भक्ति किसी आकस्मिक राजनीतिक प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं, बल्कि भारतीय धार्मिक-सांस्कृतिक चेतना में लंबे समय से विकसित हो रही प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम है। हालाँकि यह भी महत्वपूर्ण है कि द्विवेदी जी राजनीतिक प्रभाव को पूरी तरह अस्वीकार नहीं करते। उनका मत अधिक संतुलित है। वे कहते हैं- "ऐसा करके मैं इस्लाम के महत्व को भूल नहीं रहा हूँ, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"[6] अर्थात् राजनीतिक परिस्थितियाँ साहित्य को प्रभावित कर सकती हैं, लेकिन वे उसकी संपूर्ण व्याख्या नहीं कर सकतीं। साहित्य की अपनी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अंतर्धाराएँ भी होती हैं।

संत-साहित्य और कबीरः इतिहास-दृष्टि का पुनर्मूल्यांकन- शुक्ल जी ने संत-साहित्य को अपने साहित्यिक प्रतिमानों की कसौटी पर अपेक्षाकृत कम महत्व दिया। विशेषतः सिद्ध, नाथ और संत परंपरा की साहित्यिकता को लेकर उनके विचार कठोर दिखाई देते हैं। वे शिक्षित जनता पर उसके प्रभाव को सीमित मानते हैं। शुक्ल जी लिखते हैं कि "इस शाखा की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं- फुटकल दोहों या पदों के रूप में हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटांग है। ..... इस पंथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, क्योंकि उसके लिए न तो इस पंथ में कोई नई बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता।"[7] इन धारणाओं के पीछे शुक्ल जी की साहित्यिक कसौटी और शिक्षित जनता केंद्रित इतिहास-दृष्टि काम करती दिखाई देती है।

इसके विपरीत द्विवेदी जी ने संत-साहित्य को उसकी व्यापक सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में देखा। उन्होंने सिद्ध, नाथ, जैन तथा अन्य परंपराओं की पड़ताल करके संत साहित्य की ऐतिहासिक निरंतरता को समझने का प्रयास किया। उनके लिए संत साहित्य केवल धार्मिक उपदेश नहीं था, बल्कि उसमें सामान्य मनुष्यता को आंदोलित करने वाली शक्ति भी थी। द्विवेदी जी का मत है कि "जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हो, उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है जिसमें धर्म-भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आंदोलित, मथित और प्रभावित कर रही हो। इस दृष्टि से अपभ्रंश की कई रचनाएँ, जो मूलतः जैन-धर्म-भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निःसंदेह उत्तम काव्य हैं और 'विजयपाल रासो' और 'हम्मीर रासो' की भांति ही साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार्य हो सकती हैं। यह बात बौद्ध सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है।"[8] यहाँ द्विवेदी जी साहित्यिकता की कसौटी को धार्मिकता से स्वतंत्र करते हैं। किसी रचना का धार्मिक होना उसे साहित्य से बाहर नहीं कर देता। निर्णायक प्रश्न यह है कि उसमें मानवीय अनुभव और संवेदना किस रूप में व्यक्त हुई है।

कबीर का पुनर्मूल्यांकन- द्विवेदी जी की इतिहास-दृष्टि का सर्वाधिक प्रभावशाली उदाहरण कबीर के पुनर्मूल्यांकन में दिखाई देता है। शुक्ल जी कबीर को निर्गुणधारा का महत्वपूर्ण कवि मानते हुए भी उनकी भाषा और काव्यगत विशेषताओं के प्रति पर्याप्त उत्साह नहीं दिखाते। इसके विपरीत द्विवेदी जी ने कबीर को भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के एक महत्वपूर्ण मोड़ पर स्थित व्यक्तित्व के रूप में देखा। वे कबीर को विभिन्न परंपराओं के बीच स्थित एक मिलन-बिंदु के रूप में प्रस्तुत करते हैं- "वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिंदू होकर भी हिंदू नहीं थे। वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे। वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गए थे..... कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिन्दु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिंदुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्तिमार्ग, जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना; उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे।"[9] इस दृष्टि में कबीर किसी एक संप्रदाय के कवि नहीं रह जाते। वे विभिन्न धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक परंपराओं के बीच संवाद और प्रतिरोध के प्रतिनिधि बन जाते हैं। द्विवेदी जी ने कबीर की भाषा का भी प्रभावशाली मूल्यांकन किया। जहाँ उनकी भाषा को कभी 'पंचमेल खिचड़ी', 'सधुक्कड़ी' या 'ऊटपटांग' कहकर उसकी अव्यवस्थित प्रकृति पर बल दिया गया, वहीं द्विवेदी जी ने उसमें असाधारण अभिव्यक्ति-शक्ति देखी। उनका प्रसिद्ध कथन है कि "भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया- बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि उस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है।"[10] यही कारण है कि कबीर के संदर्भ में नामवर सिंह का कथन अत्यंत सार्थक प्रतीत होता है कि हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम कबीर के साथ उसी प्रकार जुड़ गया है, जैसे तुलसीदास के साथ रामचन्द्र शुक्ल का।

रीतिकाल का मूल्यांकन- रीतिकाल के मूल्यांकन में भी द्विवेदी जी ने साहित्य को सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना से जोड़कर देखा। उनके अनुसार भक्तिकाल के उत्तरार्द्ध में लौकिक शृंगार की प्रवृत्ति धीरे-धीरे विकसित हुई और साहित्य की प्रेरक शक्ति भक्ति से हटकर अलंकार, रस और नायिका-भेद की ओर बढ़ती गई। वे लिखते हैं कि "भक्त कवियों की गोपी-गोपाल लीला ने क्षीण रूप में जीवित रहने वाली लौकिक रस की काव्यधारा को सहारा दिया और इस ज़रा

से सहारे को पा करके लौकिक रस की कविताएँ सिर उठाने लगीं। शुरू-शुरू में इनकी धारा बहुत क्षीण थी; किंतु जैसे-जैसे भक्तिकाल के आरंभिक उन्मेष का उत्साह शिथिल पड़ता गया और भक्तों में भी गतानुगातिकता की माया बढ़ती गई, वैसे-वैसे लौकिक रस की कविता भी तेजी से सिर उठाती गई। सत्रहवीं शताब्दी के बाद लगभग प्रत्येक कवि की कविता में श्रीकृष्ण और गोपियों का नाम तो अवश्य आ जाता है पर प्रधानता ऐहिकतापरक शृंगार रस की ही रह जाती है। वहाँ से भक्तों की संख्या तो नहीं घटती और उत्साह का संपूर्ण रूप से वर्तमान भी रहता है, किंतु भक्ति साहित्य की मूल प्रेरक शक्ति नहीं रह जाती। यहाँ आकर कविता को प्रेरणा देने वाली शक्ति अलंकार, रस और नायिका भेद हो जाते हैं। यहाँ साहित्य को गति देने में अलंकारशास्त्र का ही जोर है, जिसे उस काल में 'रीति', 'कवित्त रीति' या 'सुकवि रीति' कहने लगे थे।"[11]

द्विवेदी जी की दृष्टि में रीतिकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ सामाजिक संरचना से अलग नहीं थीं। मुगल सत्ता के पतनशील दौर में विकसित सामंती विलासिता और दरबारी संस्कृति का प्रभाव साहित्य पर पड़ा। वे इस स्थिति को 'रुग्ण मनोभाव' से जोड़ते हैं। इस संदर्भ में उनका दूसरा महत्वपूर्ण कथन है- "मुगल शासन के अंतिम दिनों में जिस उत्तरदायित्वहीन विलासिता का वातावरण उत्पन्न हुआ था, वह नाना टुकड़ों में विभक्त होकर छोटे-छोटे आकारों में सारे देश में फैल गया। लेकिन उसकी प्रकृति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। विलासिता जब चित्तगत संकीर्णता के साथ प्रकट होती है, तो केवल विनाश की ओर ही ले जाती है। मुगल दरबार के आदर्श पर प्रतिष्ठित शतधा-विकीर्ण विलासिता छोटे-छोटे सरदारों के दरबारों में इसी चित्तगत संकीर्णता के साथ संबंध हो गई। इसीलिए इस काल की शृंगार भावना में एक प्रकार का रुग्ण मनोभाव है।"[12] इस प्रकार रीतिकाल का मूल्यांकन केवल काव्यशास्त्रीय कसौटियों पर नहीं, बल्कि साहित्य और सामंती समाज के संबंधों के आधार पर किया गया। यही द्विवेदी जी की इतिहास-दृष्टि की विशिष्टता है।

परंपरा की निरंतरता और अखिल भारतीय दृष्टि- शुक्ल जी साहित्य को निश्चित कालखंडों में विभाजित करके उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों को पहचानते हैं। वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल का उनका विभाजन हिंदी साहित्य के इतिहास को व्यवस्थित रूप देता है। द्विवेदी जी इस व्यवस्था को पूरी तरह अस्वीकार नहीं करते, लेकिन वे कालखंडों के बीच मौजूद निरंतरता को अधिक महत्व देते हैं। उनके लिए कोई साहित्यिक प्रवृत्ति अचानक समाप्त नहीं हो जाती। वह किसी न किसी रूप में बाद की परंपरा में प्रवेश करती रहती है। इसीलिए वे अपभ्रंश, सिद्ध, नाथ, जैन और बौद्ध साहित्य की ओर बार-बार लौटते हैं। निर्गुण संत साहित्य को समझने के लिए वे उसके पूर्ववर्ती स्रोतों को देखते हैं और भक्ति आंदोलन को समझने के लिए उसकी दक्षिण भारतीय तथा प्राचीन भारतीय पृष्ठभूमि की खोज करते हैं। यह पद्धति साहित्येतिहास को एक रेखीय क्रम के बजाय बहुस्तरीय सांस्कृतिक प्रवाह के रूप में देखने की क्षमता प्रदान करती है।

प्रेमचंद और जनजीवन के प्रति द्विवेदी जी की इतिहास- दृष्टि- द्विवेदी जी की इतिहास-दृष्टि का एक और महत्वपूर्ण उदाहरण प्रेमचंद का मूल्यांकन है। प्रेमचंद के साहित्य में उन्हें भारतीय समाज के व्यापक जनजीवन की अभिव्यक्ति दिखाई देती है। उनके लिए प्रेमचंद केवल एक कथाकार नहीं, बल्कि शोषित, पीड़ित, कृषक, स्त्री, गरीब और सामान्य जन की जीवन-स्थितियों के सशक्त अभिव्यक्तिकार हैं। द्विवेदी जी लिखते हैं कि "प्रेमचंद शताब्दियों से पददलित, अपमानित और निष्पोषित कृषकों की आवाज थे, पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे; गरीबों और बेकसों के महत्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुख-सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचे वाले से लेकर बैंकों तक, गाँव से लेकर धारा सभाओं तक आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। आप बेखटके

प्रेमचंद का हाथ पकड़कर मेड़ों पर गाते हुए किसान को अंतःपुर में मान किए बैठी प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वारवनिता को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगों को, कूट परामर्श में लीन गोयकों को, ईर्ष्या-परायण प्रोफेसरों को, दुर्बल हृदय बैंकरों को, साहसपरायण चमारिन को, ढोंगी पंडितों को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं और निश्चित होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ आपने देखा वह गलत नहीं है।"[13] यहाँ द्विवेदी जी के 'लोक' की व्यापक अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। साहित्य का मूल्य केवल उसकी कलात्मकता से नहीं, बल्कि इस बात से भी निर्धारित होता है कि वह कितने व्यापक जीवन-संसार को अभिव्यक्ति देता है।

निष्कर्ष-

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन की दो महत्वपूर्ण और प्रभावशाली परंपराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। शुक्ल जी ने साहित्य के इतिहास को जनता की चित्तवृत्ति, सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों और साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास से जोड़कर एक व्यवस्थित इतिहास-दृष्टि प्रदान की। उनका काल-विभाजन और साहित्यिक मूल्यांकन हिंदी साहित्येतिहास की आधारभूत संरचना निर्मित करने में अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। द्विवेदी जी ने इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए साहित्येतिहास के अनेक उपेक्षित क्षेत्रों की खोज की और स्थापित मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन किया। उन्होंने हिंदी साहित्य को संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, बौद्ध, जैन, सिद्ध, नाथ और अन्य भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं के व्यापक संदर्भ में देखने का आग्रह किया। उनके लिए साहित्य का इतिहास किसी बंद कालखंड का इतिहास नहीं, बल्कि अनेक धाराओं के निरंतर संवाद और अंतःप्रवाह का इतिहास है। भक्तिकाल की व्याख्या दोनों के बीच सबसे बड़ा मतभेद प्रस्तुत करती है। शुक्ल जी जहाँ राजनीतिक पराजय और निराशा को भक्ति के उदय की महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि मानते हैं, वहीं द्विवेदी जी भक्ति को सैकड़ों वर्षों से विकसित हो रही भारतीय सांस्कृतिक चेतना की स्वाभाविक परिणति मानते हैं। संत-साहित्य और कबीर के पुनर्मूल्यांकन में भी द्विवेदी जी की इतिहास-दृष्टि ने नए द्वार खोले। उन्होंने कबीर को किसी एक धार्मिक अथवा सांप्रदायिक खाँचे में रखने के बजाय विभिन्न परंपराओं के मिलन-बिंदु पर खड़े मानवतावादी और प्रतिरोधी व्यक्तित्व के रूप में देखा। रीतिकाल के संदर्भ में भी द्विवेदी जी ने साहित्य को सामंती समाज, दरबारी संस्कृति और सामाजिक संरचना से जोड़कर देखा। वहीं प्रेमचंद के मूल्यांकन में उनका लोक और जनजीवन केंद्रित दृष्टिकोण अपनी पूर्णता में दिखाई देता है।

अतः शुक्ल और द्विवेदी की इतिहास-दृष्टियों को केवल परस्पर विरोधी मानना उचित नहीं होगा। शुक्ल जी ने हिंदी साहित्य के इतिहास को एक व्यवस्थित ढाँचा दिया, जबकि द्विवेदी जी ने उस ढाँचे के भीतर छूट गई परंपराओं, अंतर्संबंधों और लोकधर्मी प्रवृत्तियों की खोज करके इतिहास-बोध को अधिक व्यापक बनाया। एक की शक्ति क्रमबद्धता और सामाजिक-मानसिक विश्लेषण में है, तो दूसरे की शक्ति परंपरा की निरंतरता, सांस्कृतिक व्यापकता और लोकजीवन के पुनर्मूल्यांकन में। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य के इतिहास को समग्रता में समझने के लिए शुक्ल और द्विवेदी दोनों की दृष्टियों का अध्ययन आवश्यक है। शुक्ल जी से हमें साहित्य और जनता की चित्तवृत्ति का संबंध समझने की दृष्टि मिलती है, जबकि द्विवेदी जी यह सिखाते हैं कि किसी साहित्यिक प्रवृत्ति को उसके व्यापक ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और लोक-संदर्भ से काटकर नहीं समझा जा सकता। यही दोनों इतिहास-दृष्टियों का वास्तविक महत्व और उनकी स्थायी प्रासंगिकता है।

सन्दर्भ सूची-

1. हिंदी साहित्य की भूमिका- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ निवेदन से उद्धृत।

2. साहित्य और इतिहास दृष्टि- प्रो. मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-132
3. रामचंद्र शुक्ल रचनावली (भाग-1)- (संपादक) नामवर सिंह व आशीष त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-117
4. हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-59
5. वही, पृष्ठ-59
6. हिंदी साहित्य की भूमिका- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-15-16
7. हिंदी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचंद्र शुक्ल, साहित्य सरोवर प्रकाशन, आगरा, पृष्ठ-59
8. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली (भाग-3)- (संपादक) मुकुन्द द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-556
9. हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-75-76
10. कबीर- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-170
11. हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-158
12. वही, पृष्ठ-161
13. वही, पृष्ठ-229